



व्याकरणशास्त्रीय संज्ञाएँ : व्याकरण-प्रवेशद्वार

डॉ० भवानीशंकर शर्मा 'महाजनीय'

व्याकरणशास्त्र को ही शब्दानुशासन कहा जाता है। यह भाषानुगामी होता है। अतः बहुत से आचार्य इसे भाषानुशासन का अभिधान भी देते हैं। यहाँ भाषारचना-धर्मिता का सम्यग् आलोडन करने के बाद उसके शुद्धाशुद्धि-विषयक विविध नियमों का स्थापन किया जाता है। भाषिक व्यवहार के इन नियमों से उस भाषा का बोध बहुत सुगमता से हो जाता है। ये नियम उस भाषा का ठीक-ठीक रचना-स्वरूप पाठक किंवा अध्येता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि इन नियमों से तत्सम्बद्ध किसी भी भाषा का अध्ययन अतीव सुगम हो जाता है। विशेषतः तत्सम्बद्ध भाषा के पदों एवं वाक्य की रचना की प्रणाली को ये नियम खोलकर रख देते हैं। व्याकरणशास्त्र में ध्वनियों के स्वरूप का विवेचन प्रतिपाद्य नहीं रहता किन्तु; सामान्यतः प्रत्येक वैयाकरण इन ध्वनियों के विवेचन को भी—संक्षेप से ग्रन्थ में कहीं न कहीं रखता ही है। मूलतः ध्वनिविवेचन तो शिक्षाशास्त्र का विषय है। व्याकरण तो पदरचना और वाक्यरचना को ही विस्तार से समझाता है।

संस्कृत-परम्परा में पदों की निर्मिति के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त प्रचलित हैं—धातुज एवं अधातुज। पाणिनि इन दोनों सिद्धान्तों को लेकर चलते हैं। फिर भी संस्कृत में धातुज-सिद्धान्त ही अधिक प्रचलित होने के कारण पाणिनि भी उसी मार्ग पर चलते प्रतीत होते हैं। किन्तु यह महान् वैयाकरण कहीं भी दुराग्रह से ग्रस्त प्रतीत नहीं होता। यथास्थान अधातुज-सिद्धान्त से भी पद-निर्मिति की प्रक्रिया को समझाता रहा है। महर्षि पाणिनि ने न्यूनातिन्यून पाँच सौ (५००) ई०पू० तो अष्टाध्यायी की रचना कर ही दी थी, लेकिन कुछ विद्वान् इनके काल को ई० शताब्दी के प्रारम्भ से २५०० पूर्व तक खींचते हैं। फिर भी ५०० ई०पू० से ८०० ई०पू० तक का समय पाणिनि का था ही। जिसमें प्रायः ३९७८ सूत्र हैं। सूत्रों की यह संख्या योग-विभाग के कारण से ३९६५ से ३९९६ तक भिन्न-भिन्न प्रकार की कही गयी है। ये सूत्र ही संस्कृत-व्याकरण के नियम हैं। इनसे संस्कृत-जिज्ञासु इस भाषा का सम्यगध्ययन कर सकता है।

यह सूत्र भी अनेक प्रकार का है। उनके सम्बन्ध में यहाँ विस्तृत विवेचन करने से पूर्व यह भी जानना आवश्यक है कि महर्षि पाणिनिरचिता अष्टाध्यायी की परिपूर्णता महर्षि कात्यायनकृत वार्तिकसूत्रों एवं महर्षि पतञ्जलि-विरचित महाभाष्य में निहित है। ये तीनों महान् वैयाकरण (पाणिनि, कात्यायन व पतञ्जलि) मुनित्रय के नाम से विख्यात हैं। महर्षि कात्यायन वररुचि के नाम से भी जाने जाते हैं तथा महर्षि पतञ्जलि—गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत्, शेषराज, शेषाहि, चूर्णिकाकार, पदकार आदि नामों से भी जाने जाते हैं। किन्तु; व्याकरणशास्त्र के रूप में अष्टाध्यायी का प्रचलन इतना अधिक हुआ कि सम्पूर्ण विश्व में इसके समानान्तर कोई अन्य संस्कृत-व्याकरण नहीं चल सका। आज विविध विश्वविद्यालय-महाविद्यालय-विद्यालयों में ही नहीं, प्रतियोगि-परीक्षाओं में भी इसी का व्याकरणशास्त्र के रूप में अधिक प्रचलन है। अतः यहाँ पाणिनि की इस महान् कृति के आधार पर ही समग्र नियमों को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। किन्तु इस व्याकरणशास्त्र में प्रवेश से पूर्व पाणिनि द्वारा रचित कुछ आवश्यक पारिभाषिक शब्दों एवं सूत्र-भेदों का परिचय अवश्य कर लेना चाहिए। क्योंकि इनको जाने बिना व्याकरण-शास्त्र में प्रवेश दुष्कर ही नहीं असम्भव है। यही कारण है कि यहाँ इनका संक्षेप से निर्देश किया जा रहा है।

(अ) सूत्र की सामान्य परिभाषा —

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में संस्कृत-नियमों को अत्यन्त संक्षेप में लिखा है। उन्हें यह संक्षेप अत्यन्त प्रिय था। उनकी इस रचना-शैली को सूत्रात्मक कहा जाता है। पाणिनि की सम्पूर्ण 'अष्टाध्यायी' सूत्रात्मक है। अतः सूत्र क्या है? यह कतिधा है? उसके भेदों की परिभाषाएँ क्या हैं? इत्यादि प्रश्न सहज ही उठने लगते हैं। इसलिये सर्वप्रथम विद्वानों द्वारा प्रदत्त सूत्र व उसके भेदों की परिभाषाएँ ज्ञातव्य हैं। वैयाकरणों ने सूत्र की परिभाषा इस प्रकार की है—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अन्वयः—सूत्रविदः अल्पाक्षरम् असन्दिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम् अस्तोभम् अनवद्यं च सूत्रं विदुः।

पदार्थ—सूत्रविदः= सूत्र को जानने वाले आचार्यों ने ,अल्पाक्षरम्=अत्यल्प अक्षरों वालेअसन्दिग्धम्=सन्देहरहित,सारवत्=सार से पूर्ण ,विश्वतोमुखम्=व्यापक क्षेत्र में प्रवृत्तिवाले ,अस्तोभम्=बिना रोक-टोक वाले,अनवद्यम्=निर्दोष (वाक्य को),सूत्रम्=सूत्र,विदुः= कहा है।

अनुवाद—अर्थात् वह निर्दोष वाक्यजिसमें अत्यल्प अक्षरों का प्रयोग हुआ है ,जो सन्देहरहित है ,सार से परिपूर्ण है,भाषा के व्यापक क्षेत्र में प्रवृत्तिवाला है,रोक-टोक से रहित है,सूत्रविदुः—वैयाकरण की दृष्टि में सूत्र कहलाता है। यह सूत्र—सञ्ज्ञासूत्र ,परिभाषासूत्र,विधिसूत्र,नियमसूत्र,अतिदेशसूत्र,अधिकारसूत्र के भेदों से छह(६) प्रकार का कहा गया है—

सञ्ज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।

अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते॥

अन्वयः—सूत्रं षड्विधम् उच्यते—सञ्ज्ञा च परिभाषा च विधिः नियमः एव च अतिदेशः च अधिकारः च (इति)।

अर्थात् सूत्र छह (६) प्रकार का कहा गया है—

सञ्ज्ञा-सूत्र, परिभाषा-सूत्र, विधि-सूत्र, नियम-सूत्र, अतिदेश-सूत्र और अधिकार-सूत्र ।

(१) सञ्ज्ञासूत्रम् —संसार में व्यवहार के लिए सभी पदार्थों—व्यक्तियों के नाम (सञ्ज्ञाएँ) रखते हैं—

सञ्ज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। उसी प्रकार व्याकरणशास्त्र में भी व्यवहार हेतु सञ्ज्ञा (नाम) की अपेक्षा रहती है। ऐसे सूत्र को सञ्ज्ञा-सूत्र कहा जाता है ,जिससे सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी—दोनों का बोध होता है। यथोक्तम्— सञ्ज्ञासञ्ज्ञिनोर् ज्ञानं भवति तत् सञ्ज्ञासूत्रम्। सम्यग् ज्ञायतेऽनयेति सञ्ज्ञातस्यास्सूत्रमिति सञ्ज्ञा -सूत्रम्। यह सञ्ज्ञा भी कई प्रकार की हैं। जैसे—अन्वर्थ-सञ्ज्ञा,कृत्रिम-सञ्ज्ञा,परम्परागत-सञ्ज्ञा आदि।

(२) परिभाषासूत्रम्—इसकी व्युत्पत्ति है— परितोभाष्यन्तेऽनयासा परिभाषातस्याः सूत्रमिति अर्थात् जिससे नियमों की स्थिरता की जाती है ,उसे परिभाषा-सूत्र कहते हैं। जैसा कि कहा है—अनियमेनियमकारित्वं परिभाषात्वम्। अर्थात् नियम के न रहने पर नियम करना परिभाषा कहलाता है। इनकी अष्टाध्यायी में संख्या छत्तीस (३६) है।

वस्तुतः परिभाषासूत्र विधिसूत्रों के सहायक सूत्र होते हैं ,ये स्वयं विधायक सूत्र नहीं होते। जहाँ विधिसूत्रों से स्वलक्ष्य में प्रवृत्ति सन्दिग्ध हो जाती है ,वहाँ-वहाँ परिभाषासूत्र उपस्थित होकर सन्देह का निवारण करता है तथा अलक्ष्य से उसकी निवृत्ति भी कराता है। पं० चारुदेवशास्त्री ने परिभाषासूत्रों की व्याख्या करते हुए उन्हें तीन वर्गों में वर्गीकृत किया है—

(क) वाचनिकी— पूर्व आचार्यों द्वारा वचनरूप में पठित परिभाषा को वाचनिकी कहते हैं। यथा— इको गुणवृद्धि॥ षष्ठीस्थानेयोगा॥ तस्मादित्युत्तरस्य॥ आदि।

(ख) ज्ञापकसिद्ध—ये परिभाषाएँ आचार्यों की शैली अथवा उपदेश के द्वारा ज्ञापित होती हैं। इनका साक्षात् पाठ नहीं किया गया है। यानी इनके बिना सारा सूत्र या सूत्रैकदेश व्यर्थ होता है। यथा—असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गो।

सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति।

कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्॥

(ग) लोकन्यायसिद्ध—ये परिभाषाएँ लोकव्यवहार पर आधारित हैं। यथा—व्यपदेशि -वदेकस्मिन्॥ सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य॥

(३) विधिसूत्र—वि-उपसर्गपूर्वक धा-धातु से कि-प्रत्यय होकर सुँ की प्राप्ति होने पर प्रथ मा के एकवचन में रूप बनता है—विधिः। इसकी व्युत्पत्ति है— विधीयतेऽनेनेतिविधिःतस्यसूत्रमितिविधिसूत्रम् अर्थात् जिसके द्वारा विधान किया जाता है वह सूत्र विधिसूत्र कहलाता है। अष्टाध्यायी में इन सूत्रों की संख्या सर्वाधिक है। विधिसूत्र मुख्यतः चार (४) कार्यों को सिद्ध करते हैं—प्रत्ययविधान,लोपविधान,आगमविधान तथा आदेशविधान।

(क) प्रत्ययविधान—ऐसे विधिसूत्रों द्वारा धातुओं आदि के साथ प्रत्ययों का विधान किया जाता है। जैसे—ण्वुल्लुचौ॥

(ख) लोपविधान—कुछ ऐसे विधिसूत्र हैं ,जिनसे लोपविधि होती है अर्थात् इत्सञ्ज्ञक आदि की स्थिति में उनसे लोपकार्य किया जाता है। जैसे—तस्यलोपः॥ लोपोव्योर्वलि॥

(ग) आगमविधान—कुछ विधिसूत्र ऐसे होते हैं, जिनसे धातुओं व प्रत्ययों आदि के मध्य आगम किया जाता है। जैसे—
ह्रस्वस्यपितिकृतिर्तुक्॥ डःसि धुँट्॥

(घ) आदेशविधान—एसे विधिसूत्रों से पूर्व में स्थित शब्द या शब्दांश, प्रत्यय अथवा प्रत्ययांश, धातु या धात्वंश आदि के स्थान पर (उन्हें हटाकर) नया आदेश होता है। उनके इस कार्य को **आदेश** कहा जाता है। यथा— **टा-डसिँ-डसामिनात्स्याः, इकोयणचि, झलांजशझशि** आदि।

इन **विधिसूत्रों** को चार (४) वर्गों में विभाजित किया गया है—उत्सर्ग, अपवाद, नित्य व अन्तरङ्ग।

(क) **उत्सर्गसूत्र**—एसे विधिसूत्र जो सामान्य नियमों का प्रतिनिधित्व करते हैं, **उत्सर्ग-सूत्र** कहे जाते हैं। उत्सर्गसूत्र का अपरनाम **सामान्यसूत्र** भी है। वैसे साधारण या सामान्य नियमों को **उत्सर्ग** कहा जाता है। जैसे— **आद्गुणः॥ तव्यत्तव्यानीयरः॥** आदि।

(ख) **अपवादसूत्र**—इसे **बाधकसूत्र** भी कहा जाता है। क्योंकि यह सामान्य नियम (सूत्र) के कार्य में बाधा पहुँचाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जिस विधि को अन्यत्र अवकाश प्राप्त न हो, उसे **अपवाद** कहा जाता है—

निरवकाशोविधिरपवादः॥ जैसे—**आद्गुणः** एक सामान्य (उत्सर्ग) सूत्र है; किन्तु **वृद्धिरेचि** अपवाद (बाधक) सूत्र है। क्योंकि **अ** या **आ** के पश्चात् किसी **स्वर** के होने पर **गुणरूप** एकादेश होता है; किन्तु **वृद्धिरेचि** से उसके इस कार्य में बाधा पहुँचाई गई है—**एच्** (ए, ओ, ऐ, औ) परे होने पर **वृद्धिरूप** एकादेश हो जाता है। यहाँ **वृद्धिरूप** एकादेश को **अ** या **आ** के परे **एच्** होने पर ही अवकाश प्राप्त है, अन्य स्वरों के परे होने पर नहीं। अतः समस्त स्वरों के परे होने पर **वृद्धिरूप** एकादेश निरवकाश है।

(ग) **नित्यसूत्र**—वे विधिसूत्र जो सर्वथा नियमों का नियमन करते ही हैं, **नित्यसूत्र** कहे जाते हैं। अन्य सूत्र वहाँ प्रवृत्त हों या न हों; किन्तु नित्यसूत्र अपना कार्य करते ही हैं। जैसा कि कहा है—**कृताकृतप्रसङ्गीयो विधिः स नित्यः॥**

अर्थात् जो विधि दूसरे के प्रवृत्त होने या न होने पर—दोनों दशाओं में समान रूप से प्रसक्त होती है, वह **नित्यविधि** होती है। जैसे—**दिव्सुँ**—ऐसी स्थिति में **दिवऔत्** सूत्र से **दिव्** को **औत्** आदेश होगा ही, चाहे उससे परे **सुँ** रहे या उसका लोप हो जाय।

(घ) **अन्तरङ्गसूत्र**—धातु तथा उपसर्ग में संहिता (सन्धि) का कार्य **अन्तरङ्ग** कहलाता है। यह प्राथमिकता का कार्य होने के कारण अनिवार्य रूप से किया जाता है।

(४) **नियमसूत्र**—नि-उपसर्गपूर्वक **यम्**-धातु से **घञ्**-प्रत्यय करने पर **नियम** शब्द का निर्माण होता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—**नियम्यन्तेनिश्चीयन्तेप्रयोगा येन सः॥** (जिससे प्रयोगों का नियमन किया जाय, उसे **नियम** कहा जाता है।)

सिद्धे सति आरम्भो नियमार्थः॥ (किसी व्यापक नियम से स्वतः सिद्ध कार्य के लिए उसी के प्रवृत्ति-क्षेत्र में कोई विशेष नियम बनाया जाए और वह नियम ही प्रवृत्ति का नियमन कर दे। ये सामान्यसूत्र के प्रवृत्ति के विषय में संकोच करते हैं (महाभाष्य)। ये नियमसूत्र २१७ (दो सौ सत्रह) हैं। जैसे—**कृत्तद्धितसमासाश्च॥ नः क्ये॥** आदि।

(५) **अतिदेशसूत्र**—जिसके द्वारा समानता प्रदान की जाए या आरोप किया जाए, उसे 'अतिदेशसूत्र' कहते हैं—**अतिदिश्यन्तेतुल्यतया विधीयन्ते कार्याणि येन सोऽतिदेशः॥ वी०ए०आ०आ०आ०आ०** के अनुसार इसका अर्थ है—सादृश्य के कारण प्रक्रिया या एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु पर आरोपण। यह **मीमांसानुसार** अर्थ है—**अतिदेशो नाम इतर-धर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशः (मीमांसा)।** अथवा **अन्यत्रैव प्रणीतायाः कृत्स्नाया धर्मसंहतेः । अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशः स उच्यते॥** यथा—**गोसदृशो गवयः।**

अष्टाध्यायी (व्याकरण) के ऐसे सूत्र हैं—**गोतो णित्॥ प्रौढमनोरमा** के अनुसार सात (७) प्रकार के अतिदेश हैं—(क) निमित्तादिदेश (ख) व्यपदेशादिदेश (ग) तादात्म्यादिदेश (घ) शास्त्रादिदेश (ङ) कार्यादिदेश (च) रूपादिदेश (छ) अर्थादिदेश। इन अतिदेशों में कुल एक सौ अठारह (११८) सूत्र हैं।

(६) **अधिकारसूत्र**—अधि-पूर्वक कृ-धातु से **घञ्**-प्रत्यय करने पर **अधिकार** प्रातिपदिक बनता है। व्याकरणशास्त्र में इसका विशेष अर्थ है। वह सूत्र जो किसी स्थान पर प्राप्त होता है, किन्तु उससे आगे वाले सभी सूत्रों में उसका व्यापार प्राप्त होता है, **अधिकार-सूत्र** कहलाता है। जैसा कि कहा है—**एकत्रउपात्तस्याऽन्यत्र व्यापारोऽधिकारः॥** अर्थात् जब तक दूसरा अधिकारसूत्र नहीं आ जाता, उससे पूर्व तक के सभी सूत्रों में उसकी अनुवृत्ति रहती है। जैसे— **कारके॥ स्त्रियाम्॥ 4.1.3॥** आदि। **अष्टाध्यायी** में कुल अड़तालीस (48) अधिकारसूत्र माने गए हैं। प्रवृत्ति के आधार पर अधिकारसूत्र के तीन (३) भेद किए गए हैं—**सिंहावलोकित, मण्डूकप्लुत व गङ्गाप्रवाहवत्।** यथोक्तम्—

**सिंहावलोकितं चैव मण्डूकप्लुतमेव च।
गङ्गाप्रवाहवद्वापि अधिकारास्त्रिधा मताः॥**

(आ) अनुवृत्ति—संक्षेपअपुनरावृत्ति आदि की दृष्टि से महर्षि पाणिनि ने अग्रिम सूत्रों में पूर्वसूत्र में प्रयुक्त पदों का प्रयोग साक्षात् रूप में नहीं किया है। अपितु जिस पद की उसी अर्थ में आवश्यकता हो, जिस अर्थ में वह पूर्वसूत्र में प्रयुक्त हुआ है, अग्रिम सूत्र में उसका अनुवर्तन कर लिया जाता है। पीछे के सूत्रों से अग्रिम सूत्रों में इस प्रकार से पदों को लाना ही अनुवृत्ति कही जाती है।

यह अनुवृत्ति मुख्यतः द्विधा (दो प्रकार की) होती है—अव्यवधाना तथा सव्यवधाना।

(क) अव्यवधाना—वह अनुवृत्ति, जो उत्तरवर्ती सूत्रों में जलप्रवाहवत् बिना व्यवधान के होती रहती है, अव्यवधाना कही जाती है।

(ख) सव्यवधाना—कुछ स्थलों पर अनुवृत्ति मध्यगत सूत्रों को छोड़कर अग्रिम सूत्रों में देखी जाती है। यह अनुवृत्ति मण्डूकप्लुतिन्याय से होती है। ऐसी व्यवधानयुक्ता अनुवृत्ति को सव्यवधाना कहा है। यथा—
परिक्रयणसम्प्रदानमन्यतरस्याम् तथा अभिनिविशश्च॥ १.४.४७॥ के मध्य दो सूत्रों का व्यवधान है; फिर भी मण्डूकप्लुतिन्याय से उन्हें लाँघकर अन्यतरस्याम् पद की अनुवृत्ति अभिनिविशश्च में हो जाती है।

(इ) अनुबन्ध—प्रत्यय, धातु आदि के प्रारम्भ और अन्त में कुछ ऐसे स्वर या व्यञ्जन लगे रहते हैं, जो सहेतुक होते हैं; उन्हें ही अनुबन्ध कहा जाता है। ये अनुबन्ध इत्सञ्जक होते हैं। इत्सञ्जा का प्रयोजन उनका लोप होता है। जैसे—
शतूँ में शकार और ऋकार की लशकृतद्धिते व उपदेशेजनुनासिकइत् सूत्रों से इत्सञ्जक होती है, अतः इनका तस्यलोपः से लोप हो जाता है। इस प्रकार इत्सञ्जा करके उनका लोप करना सहेतु है। क्योंकि ऐसा करने से कहीं गुण, कहीं वृद्धि, कहीं सम्प्रसारण, कहीं स्वरों की उदात्तानुदात्तता अथवा कहीं अन्य विशेष कार्य सम्पन्न होते हैं।

वस्तुतः इत्सञ्जात्व ही अनुबन्ध होता है— इत्सञ्जकत्वमनुबन्धत्वम् अथवा इत्सञ्जा-योग्यत्वमनुबन्धत्वम्। ये अनुबन्ध मुख्यतः चतुर्धा (४) होते हैं—अजनुबन्ध, अच् धर्मानुबन्ध, हलनुबन्ध तथा अच्-हल्-अनुबन्ध।

(ई) आदेश—किसी शब्द, शब्दांश, अक्षर आदि (स्थानी) को हटा उसके स्थान पर आने वाले शब्द, शब्दांश, अक्षर आदि को आदेश कहा जाता है। आदेश शत्रु के समान होता है, जो पूर्व में स्थित शब्दशब्दांश अक्षर आदि को हटाकर उसी प्रकार उस स्थान पर बैठ जाता है, जिस प्रकार एक शत्रु राजा अन्य राजा को मारकर उसके सिंहासन पर बैठ जाता है। इसीलिए कहा है—शत्रुवदादेशो भवति। जैसे—

इको यणचि सूत्र से इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान पर यण् (य, व्, र्, लृ) आदेश हो जाता है। सुध ई+उपास्य> सुध् य्+उपास्य= सुध्युपास्य। यह आदेश द्विधा (२) होता है—(क) सवदिश तथा (ख) एकादेश।

(क) सवदिश—इसका सूत्र है—अनेकालिशत् सर्वस्य॥ अनेकाल् (जिसमें अनेक अल्-वर्ण हों) तथा शित् (जिसका शकार इत्सञ्जक हो) आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं। जैसे—
लँटः शतूँशानचावप्रथमासमानाधिकरणे से शतूँ व शानच् (शित् प्रत्यय) समग्र लँट् के स्थान पर होते हैं। इसी प्रकार टा-डसिँ-डसामिनात्स्याः से समग्र टा, डसिँ और डस् की जगह क्रमशः इन्, आत् और स्य आदेश होते हैं।

(ख) एकादेश—एकः पूर्वपरयोः॥ पूर्व और पर—दोनों स्थानियों के स्थान पर होने वाला एकमात्र आदेश एकादेश कहा जाता है। जैसे—अकः सवर्णे दीर्घः, आद्गुणः, वृद्धिरेचि आदि। विद्य् आ+आ लय> विद्य् आ लय= विद्यालय।

(उ) स्थानी—जिस शब्दशब्दांश अक्षर आदि के स्थान पर आदेश किया जाता है, उसे स्थानी कहा जाता है। जैसे—
टा-डसिँ-डसामिनात्स्याः से टा, डसिँ, डस् के स्थान पर क्रमशः इन्, आत् और स्य आदेश होते हैं। यहाँ टा, डसिँ और डस् स्थानी हैं। इको यणचि से इक् (इ, उ, ऋ, लृ) स्थानी की जगह यण् (य, व्, र्, लृ) आदेश होते हैं।

प्रत्याहारसूत्र—इन सूत्रों के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में विवाद चल रहा है। कुछ लोग इन्हें पाणिनीय मानते हैं, तो अन्य माहेश्वर। पाणिनि-परम्परा के आचार्य इन सूत्रों को पाणिनिविरचित ही मानते हैं। वे कहते हैं कि व्याकृति-विशारद आचार्य पाणिनि अष्टाध्यायी जैसे स्वयं निर्मित दुर्ग के लिए नीव के पत्थर बाहर से उधार लेते फिरें—यह कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः आचार्य पाणिनि से पूर्व भी व्याकरण-शास्त्र की परम्परा बहुत समृद्ध रही है। पाणिनि ने उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया है। कई सूत्र भी ग्रहण किए हैं, उनका विशेष सन्दर्भ में उल्लेख भी किया है। उनमें से किसी माहेश्वर सम्प्रदाय से पाणिनि का सम्बन्ध अवश्य रहा है। नन्दिकेश्वरकाशिका में भी माहेश्वरसूत्रों के उद्धव का सम्बन्ध नटराज शिव से ही बताया गया है।

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।

उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतदविमर्शो शिवसूत्रजालम्॥

परम्परा में माहेश्वर-सूत्र प्रत्याहार-सूत्रों को ही कहा जा रहा है। अतः प्रतीत ही नहीं सिद्ध भी होता है कि प्रत्याहार-सूत्रों के रचयिता शिव (माहेश्वर) ही हैं। परवर्ती भाष्य-टीकाकार भी प्रत्याहारसूत्रों को माहेश्वरसूत्र ही स्वीकार करते हैं। प्रत्याहारों की कल्पना भी पाणिनि से पूर्ववर्ती ही रही है। किन्तु पाणिनि ने उसे इतना वैज्ञानिक और परिष्कृत रूप

दिया कि पूर्ववर्ती व्यवस्था उसके समक्ष गौण हो गई। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में प्रत्याहारसूत्रों से सम्बद्ध प्रत्याहारों का ऐसा सुन्दर समन्वय हुआ है कि आज के भाषा-वैज्ञानिक अचम्भित हैं। ये प्रत्याहारसूत्रचौदह (१४) हैं। आगे के प्रकरण में इनका विस्तार से विवरण-वर्णन दिया गया है। इनसे ४२ से ४४ तक प्रत्याहारों का निर्माण माना जाता रहा है। ये प्रत्याहार सूत्रवत् दिखने में बहुत लघुकाय (द्वयक्षरी) हैं, किन्तु एक प्रत्याहार से अनेक वर्णों का कथन होता है।

वार्तिकसूत्र—मुनित्रय में पाणिनि के साथ वार्तिककार कात्यायन व महर्षि पतञ्जलि का ग्रहण किया जाता है। कात्यायन ने पाणिनि की अष्टाध्यायी में कुछ और सूत्रों की आवश्यकता समझी। ये सूत्र अनावश्यक सूत्रों की ओर भी संकेत करते हैं। साथ ही, इनके द्वारा छूटे हुए नियमों का उल्लेख भी किया है। अतः विद्वानों ने वार्तिक की परिभाषा देते हुए लिखा है कि वार्तिक में उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त—इन तीनों का चिन्तन किया जाता है। जैसा कि कहा है—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

अन्वय—यत्र=जिस ग्रन्थ में, उक्तानुक्तदुरुक्तानाम्=उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त का, चिन्ता=चिन्तन, प्रवर्तते=होता है, वार्तिकज्ञाः=वार्तिक को जानने वाले, मनीषिणः=मनीषी, तंग्रन्थम्=उस ग्रन्थ को, वार्तिकम्=वार्तिक, प्राहुः=कहा है।

एक अन्य परिभाषानुसार पाणिनि द्वारा छूटे हुए विषयों का जिनमें ग्रहण किया गया, इन्हें वार्तिक कहा जाता है—

यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत्स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रवीत्येव तेनाऽदृष्टं च भाष्यकृत्॥

इस प्रकार यह कहना चाहिये कि वार्तिक वे सूत्र हैं, जिनमें अधिकांशतः पाणिनि द्वारा रचित सूत्रों की व्याख्या की गई है अथवा अस्पष्ट और गूढार्थ सूत्रों को सुस्पष्ट किया गया है। कहीं-कहीं छूटी हुई बात को जोड़ दिया गया है। कुछ आचार्य सम्पूर्ण वार्तिकों को कात्यायन की देन नहीं मानते। क्योंकि प्रथम तो ये अष्टाध्यायी के समान स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में नहीं प्राप्त होते, अपितु महाभाष्य में ही प्राप्त होते हैं। द्वितीय कुछ भिन्न वार्तिकसूत्र भी प्राप्त होते हैं। यथा—काशिका को ही लें, उसमें जो वार्तिक प्राप्त हैं, वे महाभाष्य में नहीं हैं। इस प्रकार महाभारत का पल्लवन करने वाली व्यास-परम्परा की तरह इनका भी पल्लवन अनेक वैयाकरणों की परम्परा ने किया है।

उणादिसूत्रपाठ—विद्वान् द्वारा उणादि-प्रत्ययों की संख्या प्रायः ७५० मानी जाती है। इनका रचयिता महर्षि पाणिनि को ही माना जाता है। कुछ विद्वान् आचार्य शाकटायन को भी उणादि-सूत्रों का प्रणेता मानते हैं। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पाणिनि ने स्थान-स्थान पर ऐसे सङ्केत दिये हैं। जिनसे यही सिद्ध होता कि इनके रचयिता महर्षि पाणिनि ही हैं। जैसे—उणादयोबहुलम्॥ किन्तु पाणिनि को परम्परा ने भी निश्चित ही कुछ इस प्रकार के प्रत्यय दिये हैं। अन्यथा अन्य श्रुत-परम्परा द्वारा शाकटायन को उणादिसूत्रों का प्रणेता मानना पूर्णतया असत्य होगा। हो सकता है, शाकटायन ने भी कुछ उणादिसूत्रों का प्रणयन किया हो।

अस्तु; पुनः विषय पर आते हैं। इन सूत्रों का उणादिसूत्रपाठ के पाँच पादों में विभाजन किया गया है। उणादि प्रत्यय दो प्रकार के माने जाते हैं—धातुज तथा अधातुज। धातुज-सिद्धान्त के अनुसार इन सभी प्रत्ययों की निष्पत्ति धातुओं से होती है। जैसे—कारुः, भीमः, वायुः आदि। लेकिन अन्य आचार्य इन्हें अधातुज या रूढ मानते हैं। वे इन्हें प्रातिपदिक सञ्ज्ञा प्रदान करते हैं। वे कहते हैं—उणादयोव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। जैसे—हस्त, त्यद्, तद्, यद् आदि की व्युत्पत्ति सङ्गत नहीं हो पाती है।

ये संस्कृत-व्याकरण की रचनाधर्मिता की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण एवं ज्ञातव्य बातें थीं, जिनसे व्याकरण के ढाँचे का स्थूल बोध प्रायः हो जाता है। फिर भी; कुछ अन्य सञ्ज्ञाएँ या परिभाषाएँ हैं, जिन्हें जाने बिना व्याकरणशास्त्र में प्रवेश असम्भव है। उन्हें छोड़ देना या उनका तिरस्कार करना मूर्खता ही कही जा सकती है। वस्तुतः ये सञ्ज्ञाएँ विशेष उपादेय हैं। अतः उनकी ज्ञातव्यता निश्चय ही व्याकरणशास्त्र की पूरक सिद्ध होती है। यहाँ कुछ अत्यन्त आवश्यक सञ्ज्ञाओं व परिभाषाओं का सारगर्भित विवेचन करने का प्रयास किया जा रहा है। जिनसे व्याकरणशास्त्र का मार्ग सुगम और निर्बाध हो जाता है। स्थान-स्थान पर इनका प्रयोग होगा, उनके ज्ञान के अभाव में वह प्रकरण समझ से परे होगा। साथ ही; इन सञ्ज्ञाओं को अनेक परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित किया गया है। अतः यहाँ प्रतियोगियों की सुविधार्थ उनका विवेचन किया जा रहा है।

सञ्ज्ञा-विवेचन

वृद्धिः—वृद्धिरादैच्॥ आ, ऐ तथा औ की वृद्धि सञ्ज्ञा होती है। अर्थात् दीर्घ आ, दीर्घ ऐ और दीर्घ औ—ये तीनों वृद्धि-सञ्ज्ञक हैं।

गुणः—अदेङ् गुणः॥ अ, ए, ओ—इन तीनों की गुण सञ्ज्ञा होती है।

संयोगः—ह्रलोनन्तराः संयोगः॥ स्वरों के व्यवधान से रहित हल्—व्यञ्जनों की संयोग सञ्ज्ञा होती है।

अनुनासिकः—मुखनासिकावचनोनुनासिकः॥ जिसका मुख सहित नासिका से उच्चारण किया जाता है , उस वर्ण की अनुनासिक सञ्ज्ञा होती है।

सवर्णम्—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्॥ तालु आदि स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न—ये दोनों जिन वर्णों के समान हों , उनको सवर्ण कहा जाता है।

प्रगृह्यम्—ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्॥ दीर्घ ईकारान्त, दीर्घ ऊकारान्त तथा दीर्घ एकारान्त द्विवचन पदों की प्रगृह्य सञ्ज्ञा होती है।

घु—दाधाध्वदापू॥ दा-रूप वाले और धा-रूप वाले धातुओं की घु-सञ्ज्ञा होती है, दापू तथा दैपू धातुओं को छोड़कर।

घः—तरसप्तमौ घः॥ तरपू तथा तमपू—इन दोनों प्रत्ययों की घ-सञ्ज्ञा होती है।

निष्ठा—क्तवत्तुं निष्ठा॥ क्त तथा क्तवत्तुं—इन दोनों प्रत्ययों की निष्ठा सञ्ज्ञा होती है।

सर्वनाम—सर्वादीनि सर्वनामानि—सर्व आदि शब्द सर्वनाम सञ्ज्ञ क होते हैं। अर्थात् सर्वादिगण में पठित पैंतीस (३५) शब्दों की सर्वनाम सञ्ज्ञा होती है।

अव्ययम्—स्वरादिनिपातमव्ययम्—स्वरादिगण में पठित शब्दों की तथा निपात शब्दों की अव्यय सञ्ज्ञा होती है। इन शब्दों को अविकारी पद भी कहा जाता है , अव्ययों की यह संज्ञा भी अन्वर्थ है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध होता है—वे पद जिनके रूप नहीं चलते, अव्यय कहलाते हैं अर्थात् तीनों लिंगों, सभी विभक्तियों और समस्तवचनों में जो पद विकार को प्राप्त नहीं होता, अव्यय कहलाता है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तद् अव्ययम्॥

सर्वनामस्थानम्—शिसर्वनामस्थानम्॥ जश् व शस् के स्थान पर होने वाले शि आदेश की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा होती है।
सुँडनपुंसकस्य—नपुंसकलिङ्ग से भिन्न सुँट् अर्थात् सुँ, औ, जश्, अम्, औट्—इन पाँच प्रत्ययों की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा हो। इस सञ्ज्ञा का प्रयोजन उपधा को दीर्घ आदेश करना है।

विभाषा—न वेति विभाषा॥ न (निषेध) तथा वा (विकल्प)—इन दो अर्थों की विभाषासञ्ज्ञा होती है। यहाँ न तथा वा के साथ इति का ग्रहण होने से पदों के स्वरूप का ग्रहण नकर उनके अर्थों का ग्रहण करना चाहिये। इसी कारण इस अर्थ में स्थित होने पर च और अन्यतरस्याम् के अर्थों की भी विभाषा सञ्ज्ञा हो जाती है। विभाषा दो प्रकार की होती है—व्यवस्थित तथा प्राप्ताप्राप्त विभाषा।

सम्प्रसारणम्—इगणः सम्प्रसारणम्॥ यण्—य्, व्, र्, ल् के स्थान पर होने वाले इक्—इ, उ, ऋ, लृ की सम्प्रसारण सञ्ज्ञा होती है।

स्थानी—व्याकरणशास्त्र की प्रक्रिया में जिसके स्थान पर कोई कार्य हो , उसे स्थानी कहा जाता है अर्थात् जो पहले से ही अपने स्थान पर स्थित रहता है, उसे स्थानी कहते हैं।

आदेशः—जब किसी पद-निर्मिति की प्रक्रिया में निर्मायमाण पद के किसी वर्ण या शब्दांशको हटाकर जो कोई वर्ण या शब्दांश उसके स्थान पर आकर बैठता है , उसे आदेश कहा जाता है। यह शत्रु के समान होता है—शत्रुवदादेशः। क्योंकि यह स्थानी को हटाकर उसके स्थान पर बैठता है।

आगमः—जब किसी पद-निर्मिति की प्रक्रिया में निर्मायमाण पद के साथ वर्ण या शब्दांश जोड़ा जाता है , तो उसे आगम कहा जाता है। यह आगम मित्रवत् होता है—मित्रवद् आगमः। आद्यन्तौटकितौ। षष्ठी से निर्दिष्ट को होनेवाला टित् आगम व कित् आगम क्रमशः आदि व अन्त के अवयव होते हैं। अर्थात् टित् आगम स्थानी से पूर्व में लगते हैं तथा कित् आगम उसके अन्त में बैठता है।

लोपः—अदर्शनं लोपः॥ जिसका उच्चारण विद्यमान है , फिर भी उसका अदर्शन लोप -सञ्ज्ञक हो। यहाँ अदर्शन का अर्थ है—सुनाई न देना या श्रवण का विषय न होना।

टि—अचोन्त्यादि टि। अचों के मध्य जो अन्त्य अच् यानी स्वर, वह है आदि में जिसके, उस समुदाय की टि सञ्ज्ञा होती है। यदि किसी शब्द के अन्त में मात्र स्वर ही हो , तो वहाँकेवल उस अन्त्य स्वर की ही टि सञ्ज्ञा होती है। उस अन्त्य स्वर से परे यदि हल् हो, तो वहाँ उस हल् सहित अन्त्य स्वर की टि सञ्ज्ञा होगी।

उपधा—अलोन्त्यात्पूर्व उपधा॥ अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा सञ्ज्ञा हो। जैसे— मुच् में चकार अन्त्य अल् है, उससे पूर्व वर्ण है—उकार। अतः उकार की उपधा सञ्ज्ञा है।

प्रत्याहारः—आदिरन्त्येन सहेता॥ आदि वर्ण अन्त्य इत्सञ्ज्ञक वर्ण के साथ मिल कर जहाँस्वयं तथा मध्यवर्ती वर्णों का बोध कराता हो, ऐसा दो वर्णों का समुदाय प्रत्याहार होता है। जैसे—अण् यहाँ आदि वर्ण अकार अन्त्य इत्सञ्ज्ञक णकार के साथ मिलकर स्वयं तथा मध्यवर्ती इ, उ वर्णों का भी बोध कराता है। अतः अण् एक प्रत्याहार है। सामान्य रूप से कह

सकते हैं कि जहाँ वर्णों का सङ्क्षेपीकरण होता है ,उसे प्रत्याहार कहा जाता है— “प्रत्याह्रियन्ते सङ्क्षिप्यन्ते वर्णादयो यत्र स प्रत्याहारः”।

वृद्धम्—वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्॥ जिस समुदाय के अचों के मध्य आदि अच् वृद्धि -सञ्जक हो,उस समुदाय की वृद्ध सञ्जा होती है। जैसे—शालीयः।

ऐसे ही त्यदादिगण मेंपठित शब्दों की भी वृद्ध सञ्जा होती है। जैसे—त्यदीयम्, तदीयम् आदि (त्यदादीनिच)।

अपृक्तः—अपृक्त एकाल्प्रत्ययः॥ एक अल् वाला प्रत्यय अर्थात् जिस प्रत्यय में एक वर्ण हीशेष रह जाय ,उसकी अपृक्त सञ्जा हो। जैसे—सुँ में उँकार की इत्सञ्जा होकर लोपहो जाता है,तब वहाँ सकार मात्र शेष रहता है। अतः यहाँ सकार अपृक्त सञ्जक है।

उपसर्जनम्—प्रथमानिर्दिष्टसमासउपसर्जनम्॥समासविधायकसूत्र में समागत प्रथमान्तपद द्वारा निर्दिष्ट शब्द की उपसर्जन सञ्जा होती है।

प्रातिपदिकम्—अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्॥ कृत्तद्धितसमासाश्च॥ वह सार्थक शब्दयानी सार्थक वर्णों का समूह,जो धातु व प्रत्यय से भिन्न हो या कृदन्त,तद्धितान्त और समास हो, उसकी प्रातिपदिक सञ्जा होती है।

धातुः—भूवादयो धातवः॥ क्रिया के वाचक भू आदि और वा के प्रकारवाले शब्दों की धातुसञ्जा होती है। जैसे—भू,पठ्,गम्,हन्,वा,क्रुध् आदि।

इत्—सामान्यतःछह सूत्रों से इत्-सञ्जा प्राप्त होती है। इन सूत्रों का सामान्य अर्थ देकर इसेस्पष्ट किया जा रहा है।

१.हलन्त्यम्॥ उपदेश अवस्था में प्राप्त अन्तिम हल् की इत्-सञ्जाहोती है। २.उपदेशेऽजनुनासिकइत्॥ उपदेश अवस्था में प्राप्त सानुनासिक अच्—स्वर कीइत्-सञ्जा होती है। ३.आदिर्जिटुडुवः॥ उपदेश अवस्था में धातु के आदि में वर्तमान जि,दुतथा डु की इत् सञ्जा होती है। ४.लशक्वतद्धिते॥ तद्धित प्रत्ययों को छोड़कर अन्य प्रत्ययोंके आदि में वर्तमान ल्,श् तथा कवर्ग की इत् सञ्जा होती है। ५. चुट्॥ प्रत्यय के आदि मेंवर्तमान चवर्ग तथा टवर्ग की इत् सञ्जा होती है। ६.षःप्रत्ययस्य॥ प्रत्यय के आदि मेंवर्तमान षकार की इत् सञ्जा होती है।

नदी—यूस्त्र्याख्यौ नदी॥ दीर्घ ईकारान्त तथा ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों की नदी सञ्जाहो। जैसे—नदी ,वधु। जिन शब्दों का प्रयोग मात्र स्त्रीलिङ्ग में ही होता है,वे नित्यस्त्रीलिङ्ग कहे जाते हैं।

घि—शेषो घ्यसखि॥ जिनकी नदी सञ्जा नहीं है—ऐसे ह्रस्व इकारान्त और उकारान्तशब्दों की घि सञ्जा होती है ; किन्तु सखि शब्द को छोड़कर।

लघुः—ह्रस्वं लघु॥ ह्रस्व स्वरो की लघु सञ्जा होती है। एकमात्रीभवेद्ह्रस्वः। जिसकेउच्चारण में एक मात्रा रूपी काल लगता है,उसे लघु या ह्रस्व कहते हैं।

गुरुः / दीर्घः—संयोगे गुरु॥ संयोग-सञ्जकों के परे रहते ह्रस्व स्वर की गुरु सञ्जा होती है—दीर्घ च॥ दीर्घ स्वर भी गुरु सञ्जक होता—द्विमात्रीदीर्घ उच्यते॥ जिसके उच्चारण में दोमात्राओं का काल लगता है,उसे दीर्घ कहते हैं।

पदम्—सुँमिडन्तं पदम्॥ सुँवन्त व तिडन्त शब्दों की पदसञ्जा होती है। जैसे—रामः, हरिः। नः क्ये॥ नकारान्त शब्द की क्यच्,क्यङ् तथा क्यष् परे रहते पदसञ्जा होती है।पूर्वसूत्र से ही पदसञ्जा प्राप्त है ,फिरभी इससे पद सञ्जा करके यह कहा जा रहा है कि नकारान्त पदों से परे इन प्रत्ययों के होने पर इनकी पदसञ्जा हो ,अन्य की नहीं। जैसे—राजन्+क्यच्=राजीयति। राजन्+ क्यङ् =राजीयते। चर्मन्+ क्यष्=चर्मायति। सिति च॥ सित्प्रत्यय परे रहते पूर्व शब्द-समुदाय की पद सञ्जा होती है। जैसे— भवत् + छस्=भवदीयः। ऊर्णा +युस् =ऊर्णायुः। स्वादिष्वसर्वनामस्थाने॥ सर्वनामस्थान-सञ्जक प्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों केपरेरहने पर पूर्व शब्दसमुदाय की पद सञ्जा होती है। अर्थात् सुँ,औ,जस्,अम्,औट् सेभिन्नप्रत्ययों के परे होते पूर्वशब्द की पद सञ्जा हो। जैसे—राजन्+भ्याम्=राजभ्याम्।

भम्—यचि भम्॥ यकारादि तथा अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व पद की भ-सञ्जा होती है।अर्थात् सुँ,औ,जस्,अम्,औट्— इन सर्वनामस्थान सञ्जक को छोड़ करसुँ से लेकर कप्प्रत्यय तक यकारादि और स्वरादि प्रत्यय परे रहने पर पूर्व की पद सञ्जा होती है। तसौमत्वर्थे॥ तकारान्त और सकारान्त शब्दों की मत्वर्थ प्रत्ययों के परे रहते भ-सञ्जा होती है।विद्युत् + वतुँप् = विद्युत्वान्।

उपसर्गः—उपसर्गाः क्रियायोगे॥ प्रादिगण में पठित असत्त्वार्थक शब्दों की निपात सञ्जाहोती है तथा क्रिया के योग में उनकी उपसर्ग सञ्जा भी होती है। प्र ,परा,अप,सम्,अनु, अव आदि बाईस (२२) निपात क्रिया से पूर्व में लगते हैं ,तब इनकी उपसर्ग सञ्जा होती है।जैसे—प्रणयति,प्रणायकः आदि।

निपातः—प्राग्ग्रीश्वरान्निपाताः॥ अधिरीश्वरे सूत्र से पूर्व तक कहे गये शब्दों की निपातसञ्जा जाननी चाहिए। चादयोसत्त्वे॥ द्रव्य अर्थ न होने पर च आदि अव्ययों की निपातसञ्जा होती है।

गतिः—गतिश्च॥ यानी क्रियायोग में प्र आदि की गति और उपसर्ग सञ्जा भी होती है। ऊर्यादिच्चिँडाचञ्च॥ ऊर्यादि शब्द, च्यन्त व डाजन्त शब्दों की क्रियायोग में गति और निपात सञ्जा होती है।

संहिता—परः सन्निकर्षः संहिता॥ वर्णों की अत्यधिक निकटता संहिता कही जाती है। यानी आधी मात्रा के काल के व्यवधान से युक्त होने की स्थिति ही संहिता कही जाती है। इसे सन्धि के नाम से भी जाना जाता है।

अवसानम्—विरामोऽवसानम्॥ विराम की अवसानसञ्जा होती है। अर्थात् वर्णों के उच्चारणका अभाव अवसानसञ्जक होता है। यानी जिसके बाद में किसी अन्य वर्ण की प्राप्ति न हो, उस अन्तिम वर्ण की अवसान सञ्जा होती है। जैसे— रामसुँ>रामस्>रामरँ= रामर्, यहाँ (रामर्में) अन्त्य रकार (रेफ) की अवसान सञ्जा है।

सम्बुद्धिः—एकवचनं सम्बुद्धिः॥ सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि सञ्जा होती है। सामन्त्रितम्॥ सूत्र से सम्बोधन में जो प्रथमा होती है, उसकी आमन्त्रित सञ्जा होती है। अतः यहाँ आमन्त्रित प्रथमा के एकवचन की ही सम्बुद्धि सञ्जा हो।

सार्वधातुकम्—तिङ्शित् सार्वधातुकम्॥ तिङ् और शित् प्रत्यय सार्वधातुक सञ्जक होते हैं, यानी धातोः सूत्र के अधिकार में कहे गये तिङ् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक सञ्जा होती है।

आर्धधातुकम्—आर्धधातुकं शेषः॥ तिङ् व शित् प्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों की आर्धधातुकसञ्जा हो। सार्वधातुक व आर्धधातुक सञ्जा का प्रयोजन इगन्त अङ्ग को गुण करना है।

अङ्गम्—यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्॥ जो प्रत्यय शब्द से किया जाता है, वह प्रकृति जिस शब्द-स्वरूप के आदि में है, ऐसे प्रकृति सहित शब्द-स्वरूप की प्रत्यय के परे होने पर अङ्ग संज्ञा होती है। जैसे— भू + मिप् में शप् का आगम हुआ तो बना— भूशप्मिप्>भूअमि—यहाँ भू'भू अ' के आदि में है, जिससे परे मिप् प्रत्यय का विधान हुआ है। अतः प्रस्तुत सूत्रानुसार भूअ की अङ्ग संज्ञा होती है। लेकिन जहाँ मात्र प्रकृति ही से होयानी प्रकृति व प्रत्यय के मध्य कोई आगम नहीं हुआ हो, वहाँ व्यपदेशिवद्भाव से तदादिकेवल प्रकृति ही होगी। जैसे— मोहनसुँ—यहाँ मोहन और सुँ के मध्य कुछ भी नहीं है, अतः मोहन की ही अङ्ग संज्ञा होगी।